अकाल और बच्चे

❑ राजाराम भादू

फिलवक्त राजस्थान का अधिकांश भाग भीषण अकाल की चपेट में है । अकाल की विभीषिका गुजरात, महाराष्ट्र और उड़ीसा तक फैली है । उड़ीसा पर यह दोहरी मार है, पहले वह तूफान की त्रासदी का शिकार हुआ और अब अनावृष्टि की मार झेल रहा है । एकाध बार का प्रसंग छोड़ दें तो अकाल से संबंधित खबरें हाशिये पर संक्षिप्ति का शिकार हैं । देश के संपन्न शहरी तबके में अकाल को लेकर कोई संवेदनशीलता परिलक्षित नहीं होती । हमें भी अकाल के संदर्भ में बाबा नार्गाजुन की पंक्तियां ही याद आती हैं, 'कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास' । अकाल की स्थिति के यथा तथ्य चित्रण और पारिस्थितिक साक्ष्य हमारे लिए दुर्लभ हो गये हैं ।

हम चाहते थे कि अकालग्रस्त इलाकों में बच्चों की स्थिति पर कुछ जानकारी जुटाकर 'विमर्श' में प्रकाशित करें । लेकिन कोशिश करने के बाद भी यह संभव नहीं हुआ । जिन लोगों तक हमारी पहुंच थी, उनकी भी अकाल में बच्चों के संकट-चित्रों तक या तो पहुंच नहीं थी या उन्होंने इस काम को तबज्जो नहीं दी । अकाल में बच्चों के शब्दचित्र न जुटा पाने की हताशा के दिनों में एक दिन अखबार के मृखपृष्ठ पर कुछ चित्र देखे। इन चित्रों में अकाल राहत कार्यों का चित्रण था और देखा कि काम करने वालों में बालक-बालिका भी शामिल थे । यहां तक कि वे स्कूली यूनीफार्म पहने थे। गांव के विपन्न परिवारों में ऐसे बच्चों की तादाद कम नहीं है जिनके पास सिर्फ एक जोडी कपड़े होते हैं । तो लगा यह कि अकाल ग्रस्त इलाकों में चल रहे राहत कार्यों में बच्चे भी मजदूरी करने में लगे हैं । किन्तु इस बात पर पूरी तरह विश्वास नहीं हो पाता था ।

बाद में अकाल पीड़ितों के बीच काम कर रही कुछ संस्थाओं/संगठनों से बातचीत का अवसर मिला तो इस तथ्य पर यकीन न करने का कोई कारण नहीं रहा । वस्तुत: राहत कार्यों में मजदूरी काम की नाप के हिसाब से दी जाती है । राहत कार्य अधिकतर मिट्टी खोदने-डालने जैसे होते हैं, जिनके तहत तालाबों को गहरा करने, सड़क या बांध बनाने जैसे काम होते हैं । इनमें तय होता है कि इतने नाप की मिट्टी खोदकर तय स्थान पर डालने की इतनी मजदूरी मिलेगी । ऐसी स्थिति में, मस्टर रोल में नाम तो एक व्यक्ति का ही लिखा जाता है किन्तु काम उसके साथ परिवार के और सदस्य भी करते हैं । इनमें बूढ़े और बच्चे भी शामिल होते हैं । अधिक मजदूरी पाने की चाहत बच्चों को भी कार्यस्थल तक खींच लाती है । अब जरा इन तथ्यों पर गौर करें कि अकाल राहत कार्य देर से शुरू हुए, बमुश्किल महीने-ड़ेढ महीने चल पायेंगे, इनमें भी सबको काम नहीं मिला है, अनेक जगह से कम मजदूरी दिए जाने और फर्जी मस्टर रोल भरने की शिकायतें आ रही हैं।

बेकारी झेलते अकालग्रस्त क्षेत्रों में सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता तथ्य देकर बताते हैं कि तमाम और आपदाओं की तरह अकाल की मार भी सबसे ज्यादा आदिवासी, दलित और वंचित तबकों को ही झेलनी पड़ती है । इन लोगों में ज्यादा तादाद कृषकों और भूमिहीनों की है जो दूसरों के खेतों में मजदूरी कर गुजर-बसर करते हैं । अकाल ने इनका यह सहारा भी छीन लिया है । इन परिवारों के स्त्रियां और बच्चे और भी मुसीबतजदा होते हैं। महिलाएं और बालिकाएं पीने के पानी की तलाश में भटकते दिन गुजार देते हैं, घर में किसी तरह आई खाद्य सामग्री से भोजन का जुगाड़ करते हैं तो बच्चे मवेशियों के लिये चारे की टोह लेते हैं और कई बार पशुओं को दम तोडते देखने को अभिशप्त होते हैं । हमें पता है कि स्कूल न जाने वाले और बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों में एक बड़ी तादाद

समाज के इन्हीं वर्गों की है जो फिलवक्त अकाल की चपेट में हैं । यदि ये बच्चे स्कूल जाने भी लगे हों तो अकाल की आपदा ने इन्हें स्कूल से खदेड़ दिया होगा- यह सोचना फिजूल नहीं है । आपदाओं में इन तबकों की शिक्षा और स्वास्थ्य विषयक स्थितियों पर अत्यंत प्रतिकूल असर पड़ता है ।

ऐसे अनेक कारण हैं कि हम बच्चों को उनके घर परिवार, संबद्ध समाज और देशकाल से काटकर देखने के पक्ष में नहीं है । और न ही शिक्षा को एक प्रक्रिया के रूप में इन सबसे निरपेक्ष देखने के हामी है । इन तबकों के लिए शिक्षा कोई एकांगी सोपान नहीं हो सकती बल्कि उसे कमजोर तबकों के सबलीकरण के समग्र कार्यभार में समाहित करना होगा। तब शिक्षा के सार्वजनीकरण की चिंता करने वालों के लिए यह दूरंदेशी भी आवश्यक हो जाती है कि कुछ ऐसी व्यवस्थायें की जायें कि प्राकृतिक आपदाओं और अन्य विकट स्थितियों से भी बच्चों की पढ़ाई कम से कम बाधित हो और अध्ययन की नियमितता सुनिश्चित की जा सके ।

साथ ही-यहां सामाजिक संवेदनशीलता का प्रश्न भी उठता है । क्या अपने समाज में कमजोर तबके की चिंता-फिक्र केवल सरकार और व्यवस्था का उत्तरदायित्व है ? क्या हमारा उससे कोई सरोकार नहीं है? अथवा अकालग्रस्त लोगों के लिए कुछ दान-पुण्य के साथ ही हमारे कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है ? क्या हम समाज के कमजोर हिस्से के प्रति इस प्रकार संवेदनशील नहीं हो सकते कि वह भी हमारा ही अविभाज्य अंग है ? क्या हम भीख की संस्कृति को अलविदा कहने जा रहे हैं ?

हम सब बचपन को लेकर काफी रूमानी ललक रखते हैं । उसमें दादी-नानी की सुनायी परी कथायें और खिलंदडेपन की गुजरी स्मृतियां है । लेकिन ध्यान रहे कि बचपन में गुजरा बुरा वक्त भी अमिट छाप छोड़ता है । वह बच्चे के समूचे विकास को प्रभावित करता है । बचपन की विकटताएं जीवनपर्यन्त पीछा नहीं छोड़तीं । यदि इन वर्षों में बच्चे ने बहुत दुखद दृश्य देखे हैं, यातनाएं झेली हैं और यदि इनका अंत हो भी गया है तो भी ये बहुत कुछ नष्ट कर जाती हैं । मनुष्य शारीरिक तौर पर ही अपाहिज नहीं होता, वह भावात्मक दुर्घटना का भी शिकार होता है । याचना और भीख व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध कर देती है । शोषण उसे खंडित करता है । निरंतर आपदा उसे संवेदनहीन बना देती हैं । आज का दुखद वृतांत स्मृतियों में जाकर भी कल के दु:स्वप्नों में लौट आया करता है ।

'शिक्षा-विमर्श' के विधिवत् प्रकाशन का दूसरा वर्ष चल रहा है । हमें अपने पाठकों को खेदपूर्वक यह सूचना देनी पड़ रही है कि अंतत: पत्रिका का मूल्य बढ़ाना पड़ा है । कागज की तेजी से बढ़ती कीमतों और मौजूदा छपाई दरों ने हमें मूल्य - वृद्धि के लिए विवश कर दिया है । तथापि, हमें पूरा विश्वास है कि आप वस्तुस्थिति को समझते हुए पत्रिका को सहयोग देते रहेंगे । साभार । ◆